विपश्यना क्यों ?

धर्म न हिंदू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन ।।

शांति व चैन किसे नहीं चाहिए ? जबकि सारे संसार में अशांति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है। शांतिपूर्वक जीना आ जाय तो जीने की कला हाथ आ जाय। सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपूर्वक जीएं तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें, धर्म कैसे शांति देता है !

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते हैं ? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारों से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध होकर हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है जिससे हममें क्रोध, ईर्ष्या भय इत्यादि आयें ही नहीं और आयें भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें ?

आखिर ये विकार क्यों आते हैं ? अधिकांशतः किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं ? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो ? नहीं, यह किसी के लिए संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियां आती रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद भी हम अपने मन को शांत व संतुलित रख सकें। रास्ते में कांटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें। तेज वर्षा, धूप आयेगी ही। बचाव इसी में है कि हम छाता तानकर चलें। याने प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें। सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बना रहूं। यहां एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यबहार करने पर यानी उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है ? इसका कारण मुझमें याने मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि की गांठें हैं जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चैतन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अंतर्मन परम शुद्ध है, उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती।

परंतु प्रश्न यह है कि जब तक अंतर्मन परम शुद्ध नहीं हो जाता तब तक क्या किया जाय ? मन में पूर्व संचित संस्कारों की गंदगियां तो हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का संपर्क होते ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें ?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें। किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में। यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परंतु यह सही उपाय नहीं है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अन्दर का अचेतन, अर्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर ही भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गांठे बांधता जाता है। भविष्य में जब कभी ये गांठें उभरकर चेतन मन पर आयेंगी तब और अधिक अशांति पैदा करेंगी। अतः पलायन करना समस्या का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से २५०० वर्ष पूर्व इसी देश में भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगों के कल्याण के लिए सर्व सुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। किसी भी घटना के कारण जो भी विकार जागे उसे यथावत देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है उसे वैसा ही देखें। देखते रहें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। परन्तु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है उस समय हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मारपीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चाताप करते हैं। परंतु दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं। वस्तुतः क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चाताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आए तब सोए रहें, परंतु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगायें तो इससे क्या लाभ ? निकल भागने के बाद उस सांप की लकीर पीटते रहें तो क्या लाभ ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए ? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप में कोई सहायक रखे ? यह संभव नहीं है। और मान लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिएं। तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे ? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है वही आलंबन बार-बार मन में उभरता है और आग में घी का काम करता है। वंही तो उद्दीपन है। उसके चिन्तन से छुटकारा कैसे होगा ? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक बड़ी समस्या यह है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाय ?

अतः हमारे सामने दो समस्याएं हैं। एक तो यह कि विकार के जगने पर सचेत कैसे हों ? और दूसरी यह कि सचेत हो जायँ तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें ? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से मन में कोई विकार जागता है तब एक तो सांस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती है और दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी न किसी प्रकार की जीव-रसायनिक प्रक्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को देखने का अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम होने लगता है और विकार स्वतः क्षीण होते-होते निर्मूल होने लगता है। सांस को देखने का अभ्यास 'आनापान-सति' कहलाता है और शरीर में होने वाली जीव-रसायनिक प्रतिक्रियाओं को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास 'विपश्यना' कहलाता है। दोनों एक दूसरे से गहरे संबंधित हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाय तो किसी भी कारणं जब मन में विकार उठे तो पहला काम यह होगा कि सांस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रसायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चित्तधारा में कोई विकार जाग रहा है। सांस और सूक्ष्म संवेदना को देखने लगें तो स्वभावतः उस समय के उठे विकार का उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपने सांस लेने और छोड़ने को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रसायनिक या विद्युत-चुम्बकीय प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय विकार उत्पन्न करने वाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है। ऐसा होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है। क्योंकि अंतर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा कर दी, उस सच्चाई को देख रहे हैं। सतत अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की कला जितनी पुष्ट होती है उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नहीं पाते या चलते भी हैं तो पत्थर की लकीर की तरह के संस्कार गहरे अंकित नहीं हो पाते। बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का संस्कार बनता है जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दुःखदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अंतर्मन पर उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है। अतः काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देखकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाय ताकि वह अधिक लंबे अर्से तक चलकर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कहीं ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़क कर उस आग को बढ़ावा दे दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना, उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को ऋत कहते हैं। हम उसे ही धर्म कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शांति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जानकर विकारों से छुटकारा पाने का तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है। परंतु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय याने धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे वाद-विवाद का विषय बनाकर सिद्धान्तों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धिविलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धान्तों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, 'स्व' का निरीक्षण करे। अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देखकर बुझाए। यही सम्यक दर्शन है। यही 'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान-चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य-निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धिविलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक स्तर पर विषय को समझा जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है। परंतु वास्तविक लाभ तो अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत होने ही न दें, सदा सचेत रहकर 'स्व' का निरीक्षण करते रहें। यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ी हैं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया है, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धान्तिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का एक शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है। मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता। दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है। सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में लगभग दो हजार वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों एवं आसक्ति-भरे तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतार सकने की एक मंगल-विधा प्राप्त हुई। अब कुछ वर्षों से भारत में आया हूँ। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र संपदा है। किसी भी कारण से यहां से विलुप्त हो गई। मैं तो भागीरथ की तरह इस खोई धर्म-गंगा को ब्रह्मदेश से इस देश में

पुनः ले आया हूं और इसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूं।

याद करता हूं कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुःखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुःख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक से अधिक लोग जो अपने विकारों से विकृत हैं, इसलिए दुःखी हैं, वे इस कल्याणकारिणी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुःख मुक्त होकर सुखलाभी हों। याद करता हूं कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुःखी होता था तो अपना दुःख अपने तक सीमित न रख कर औरों को बांटता था। औरों को दुःखी बनाता था उस समय मेरे पास बांटने के लिए दुःख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याणकारी विधि द्वारा जितना-जितना विकारों से उन्मुक्त हुआ और फलतः जो भी यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बांटूं। इसे बांटने पर सुख-संवर्धन होता है। दस दिन के शिविरों में लोग अक्सर मुरझाए हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समाप्ति पर खिले चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-संतोष से भर उठता है। अधिक से अधिक लोग इस मंगलकारी विधि का लाभ उठाकर सुखलाभी हों! अधिक से अधिक लोगों का भला हो! कल्याण हो! मंगल हो! यही धर्मकामना है!

भवतु सब्ब मंगलं!

सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना-साधना-शिविर

अंतर्मन की गहराइयों तक जाकर ग्रंथि-विमोचन की कला सीखने के लिए १० दिन की अवधि सचमुच बहुत कम है। अतः इसका पूरा लाभ उठाने के लिए एकांत अभ्यास की निरंतरता नितांत आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखकर अनुशासन-संहिता की नियमावली और समय-सारिणी बनाई गई है। इसके पीछे अनेक साधकों के अनुभवों का वैज्ञानिक आधार है। इसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं –

यदि इनका पालन निष्ठा और गंभीरतापूर्वक कर सकते हों तो ही शिविर में प्रवेश पाने के लिए आवेदन करना उचित होगा: –

* शिविरार्थी को पूरे १० दिनों तक शिविर-स्थल पर ही रहना होगा। बीच में शिविर छोड़ कर नहीं जा सकेंगे।

* शिविर की अवधि पर्यंत साधक किसी अन्य प्रकार की साधना-विधि व पूजा-पाठ, धूप-दीप, माला-जप, भजन-कीर्तन, व्रत-उपवास आदि कर्मकांडों का अभ्यास, अनुष्ठान बिल्कुल न करें। विपश्यना के साथ ऐसा सम्मिश्रण बहुधा हानिप्रद सावित हुआ है, इसी कारण यह नियम बनाया गया है।

* प्रत्येक साधक को शिविर के दौरान – १. जीव-हत्या २. चोरी ३. मैथुन ४. असत्य भाषण और ५. नशे व मादक पदार्थ के सेवन से – विरत रहना होगा।

* साधक किसी भी विषय की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं व लेखन-सामग्री अपने साथ नहीं लायें। शिविर के दौरान धार्मिक एवं विपश्यना संबंधी पुस्तकें पढ़ना भी वर्जित है।

* शिविर आरंभ होने से लेकर दसवें दिन सुबह साढ़े नौ बजे तक साधक आर्य-मौन याने वचन व शरीर से भी मौन का पालन करेंगे।

* अनुशासन-संहिता के नियम अत्यंत मंगल भावना से साधकों के लाभ हेतु ही बनाए गए हैं।

* विपश्यना जैसी पावन अनमोल साधना की शिक्षा पूर्णतया निःशुल्क ही दी जाती है। शिविरों का खर्च इस साधना से लाभान्वित साधकों के कृतज्ञताभरे ऐच्छिक दान से चलता है।

* दैनिक नैसर्गिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त साधना के लिए निरंतर अभ्यास हेतु अधिक से अधिक समय मिल सके, इसलिए सुबह ४.३० बजे से रात ९ बजे तक की समय-सारणी निर्धारित की गयी है।

नोटः – शिविर में सम्मिलित होने के लिए विपश्यना केंद्र से कृपया **संपूर्ण अनुशासन-संहिता,** आवेदन-पत्र और भावी शिविरों की जानकारी प्राप्त कर समय रहते अपनी बुकिंग अवश्य करा लें।

कारण तेरे दुःख के, भीतर ही हैं जान।
क्या तूं ढूंढ़े बावरा, बहिर्मुखी नादान॥

जब तक मन में राग है, जब तक मन में द्वेष।
तब तक दुःख ही दुःख है, मिटें न मन के क्लेश॥

सुख दुःख दोनों एक से, मान और अपमान।
जिस दिन यह समता मिले, उस दिन ही निर्वाण॥

शुद्ध-धर्म का शांति-पथ, संप्रदाय से दूर।
शुद्ध-धर्म की साधना, मंगल से भरपूर॥

प्रज्ञा शील समाधि ही, शुद्ध धर्म का सार।
जो कोई धारण करे, होय दुखों के पार॥

****